

# इकाई 5 कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता

## इकाई की रूपरेखा

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 5.3 आज के संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन
- 5.4 कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव
- 5.5 कबीर का दर्शन
  - 5.5.1 ब्रह्म
  - 5.5.2 जीव
  - 5.5.3 माया
  - 5.5.4 जगत
  - 5.5.5 मोक्ष
  - 5.5.6 कबीर के राम
  - 5.5.7 भक्ति
- 5.6 सारांश
- 5.7 अभ्यास/प्रश्न

## 5.0 उद्देश्य

भक्ति काव्य-I (निर्गुण काव्य) खंड की यह पहली इकाई है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे;
- आज के संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- कबीर पर सिद्धों और नाथों के प्रभाव को परख सकेंगे; और
- कबीर के दर्शन के विविध पक्षों का अध्ययन कर सकेंगे।

## 5.1 प्रस्तावना

कबीर के काव्य के मूल्यांकन से संबंधित विभिन्न पक्षों पर इस इकाई के अंतर्गत विचार किया गया है। पहली समस्या तो यही है कि कबीर को मध्यकालीन समाज के एक प्रतिनिधि रचनाकार के रूप में कैसे देखा जाय? दूसरी समस्या यह है कि कबीर तथा अन्य संत कवियों पर पूर्ववर्ती धर्म साधना तथा सांस्कृतिक परम्परा का क्या कोई प्रभाव है या नहीं? तीसरा प्रश्न यह है कि कबीर अपने युग में नये विचारों के वाहक, अग्रणी चिंतक तथा रचनाकार के रूप में किस प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे? चौथा प्रश्न यह है कि आज कबीर साहित्य की कोई सार्थकता तथा प्रासंगिकता है या नहीं?

इनके अतिरिक्त कबीर की विचारधारा और उनके दर्शन को लेकर अनेक प्रकार की भ्रांतियां फैली हैं। अतः उनके दर्शनपक्ष को ठोस रूप में प्रस्तुत किया गया है और यह बताया गया है कि वे न तो गोरखनाथ के अनुयायी थे और न शंकराचार्य के। उनका अपना स्वतंत्र दर्शन था।

## 5.2 कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

किसी भी रचनाकार की विचारधारा अथवा विचारचेतना का उद्भव और क्रमिक विकास किसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति के कारण ही होता है। कबीर की विचारचेतना और उसकी प्रासंगिकता का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्रचलित तत्कालीन परिस्थितियों के ठोस संदर्भ में देखा जाए और इस बात की छानबीन की

जाय कि उक्त परिस्थिति ने उनकी सोचसमझ, उनकी अनुभव प्रक्रिया और उनके संज्ञान को किस प्रकार प्रभावित किया। यद्यपि मध्ययुग की धार्मिक और दार्शनिक प्रणालियाँ सामंतवाद की सीमाओं में जकड़ी थीं किंतु इससे यह निष्कर्ष यांत्रिक रूप से निकालना सर्वथा भ्रान्त होगा कि कबीर के विचार अथवा मध्ययुग के सभी विचार सामंती शासकों के हितों के पृष्ठपोषक थे। सामंती विचारधारा की सीमाओं तथा उस युग की ऐतिहासिक बाधताओं की जकड़बंदी के कारण कबीर की विचारधारा की भी सीमाएँ हैं, जिनके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की असंगतियों की झलक कबीर में भी उल्लेखनीय स्पष्टता के साथ दिखायी देती है।

कबीर नाथपंथी योगी परिवार में पले-बढ़े थे। ये नाथपंथी न तो हिन्दू माने जाते थे, न मुसलमान। 'कबीर' नामक पुस्तक में हज़ारी प्रसाद द्विवेदी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि "योगी जाति का संबंध नाथपंथ से है। जान पड़ता है, कबीर के वंश में भी नाथपंथी संस्कार पूरी मात्रा में थे। यदि नाथपंथी सिद्धांतों की जानकारी न हो तो कबीर की वाणियों को समझ सकना भी मुश्किल है।" गोरखनाथ के समय से ही नाथपंथी लोग हिन्दुओं और मुसलमानों के बाह्याचार, धार्मिक पाखंड, जातपाँत की कट्टरता, सामाजिक रूढ़िवाद और धार्मिक अंधविश्वासों के विरुद्ध भारत के पश्चिमी, उत्तरी और पूर्वी भागों में अपना आंदोलन चला रहे थे। नाथपंथियों में गृहस्थ लोग भी शामिल थे, पर आंदोलन का नेतृत्व मुख्यतः वैरागियों और फकीरों के हाथ में था। वे स्वेच्छा से गरीबी का, सादगी का और सांसारिक सुखों से विरक्त संतों का जीवन जीते थे। एक आंदोलन के रूप में नाथपंथियों की यह जीवनशैली सामंती विलासिता, ऐश्वर्य और मदांधता के खिलाफ एक प्रकार के प्रोटेस्ट या विरोध की अभिव्यक्ति थी। सामंतवाद के खिलाफ यह विरोध, सामंती शासकवर्ग के रहनसहन के तौरतरीकों, उनकी शाहखर्ची और ऐशों आराम के पीछे दीवाने रहने की उनकी आदतों के खिलाफ विरोध के रूप में प्रकट होता था। सांसारिकता को तिलांजलि देने की यह भावना, वैराग्य की यह प्रवृत्ति दरअसल उनकी विरोध भावना की ही आध्यात्मिक अभिव्यक्ति थी। दिल्ली सल्तनत के शासकों के काल में अर्थात् चौदहवीं पन्द्रहवीं सदियों में भूराजस्व की वसूली के क्रम में किसानों पर जिस प्रकार के जुल्म होते थे, उनके विरोध में लाखों किसान अपने गाँव छोड़कर, जमीन, घर-बार छोड़कर भाग जाते थे और शहरों के दस्तकारों-कारीगरों की टोली में शामिल हो जाते थे। यहाँ मध्ययुग के इतिहासकारों द्वारा इस संदर्भ में प्रस्तुत किये गये तथ्यों और निष्कर्षों को विस्तार से रखने की गुंजाइश न होने के कारण सिर्फ इतना बताना आवश्यक है कि किसानों पर जुल्म ढाने में हिन्दू और मुसलमान भूस्वामी समान रूप से हिस्सा लेते थे।

पलट कर विगत इतिहास के इन अध्यायों का गहराई से अध्ययन करने से ही पता चलता है कि सांसारिक सुखों से वैराग्य की भावना, जीवन की क्षणभंगुरता के बोध, जगत को काल का चबेना कहने की प्रवृत्ति, मानवीय समानता की पुकार, हृदय की शुद्धता, धार्मिक रूढ़िवाद के खंडन तथा निर्गुण ब्रह्म से सच्ची प्रीति (सहज समाधि) के पीछे मूलतः देहातों और शहरों के गरीबों की सामंतवाद-विरोधी चेतना ही व्यापक रूप में काम कर रही थी। सिद्धों, नाथों, संतों और सूफियों के साहित्य को इसी ऐतिहासिक संदर्भ में ठीक से समझा जा सकता है। मध्ययुगीन साहित्य के रहस्यवाद को समझने की कुंजी भी यह ऐतिहासिक प्रक्रिया ही प्रदान करती है, न कि तात्विक चिंतन-प्रक्रिया। कबीर के रहस्यवाद और एकेश्वरवाद को दर्शन की कसौटी पर परखना सर्वथा गलत है। संतों या निरगुनिया कवियों के काव्य को समझने के लिए वैदिक परंपरा का चौखटा अपर्याप्त है। श्रमण परंपरा तथा सूफी आंदोलन ने संत साहित्य की अंतर्वस्तु और उसकी वैचारिक चेतना के निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभायी थी। इसके साथ ही महाराष्ट्र के संतों में ज्ञानदेव और नामदेव ने भी हिन्दी की निरगुनिया काव्यधारा के प्रवर्तक कबीर को बड़ी गहराई से प्रभावित किया था। इतिहासकार प्रोफेसर इरफान हबीब के एक लेख ('मध्ययुग में लोकप्रिय एकेश्वरवाद का ऐतिहासिक विन्यास') में कबीर के तथा अन्य निरगुनिया संतों के एकेश्वरवाद का विवेचन ऐतिहासिक संदर्भ में किया गया है। प्रोफेसर इरफान हबीब संतकाव्य आंदोलन के एकेश्वरवाद के एक "नाटकीय पहलू" अर्थात् नामदेव, कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि की जातियों (रंगसाज, जुलाहा, चमार, खत्री, धुनिया) का उल्लेख करते हुए यह बताते हैं कि ये उत्पीड़ित और दलित सामाजिक तबकों से आये थे; इनका एकेश्वरवाद समाज की निचली जातियों की आवाज़ बनकर प्रगट हुआ था। कबीर के एकेश्वरवाद के संबंध में वे कहते हैं:

"वास्तव में कबीर ऐसे एकेश्वरवाद की स्थापना करते हैं, जिसमें ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण तो है परन्तु सारे धार्मिक अनुष्ठानों को नकारा गया है और इस तरह वह कट्टर इस्लाम से बहुत आगे निकल गया है। कबीर के लिए ईश्वर से एकाकार होने का अर्थ अनुष्ठानों का एक होना है और इसलिए वहाँ शुद्धता और छुआछूत की प्रथा को सम्पूर्ण रूप से, स्पष्ट शब्दों में नकारा गया है तथा सब तरह के अनुष्ठानों को अस्वीकार किया गया है।" (सांप्रदायिकता और संस्कृति के सवाल, पृ० 23)

कबीर का एकेश्वरवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न एक विचारधारा है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीवात्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अद्वैत वेदान्त का शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत विवेचन शास्त्रीय पुरोहितवाद का ही ऐसा संस्करण था जो पुरानी ढहती हुई सामाजिक व्यवस्था, ब्राह्मणवादी प्रभुत्व और जातपात के भेदभाव को नयी परिस्थितियों में बचाये रखना चाहता था। शंकराचार्य के नेतृत्व में नये सिरे से सारे हिन्दुस्तान में मठों और मंदिरों की प्रतिष्ठा हुई। सामंती राजाओं और भूस्वामियों ने दान तथा संरक्षण के द्वारा इस शास्त्रीय पुरोहितवाद, बाह्य आचारों, यज्ञों और मंदिरों को प्रोत्साहित कर बौद्धों, जैनों, शैवों, शाक्तों और अवैदिक श्रमण परंपराओं को परास्त करने के लिए शंकर के अद्वैतवाद को अपना नवीन घोषणापत्र बना लिया।

कबीर समेत भक्ति आंदोलन के सभी प्रारंभिक रचनाकारों का साहित्य अपने आप में एक शुद्ध धार्मिक आंदोलन की अभिव्यक्ति न होकर तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की टकराहटों और असंगतियों की आदर्शवादी अभिव्यक्ति है। भारतीय दर्शन के इतिहास के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री के० दामोदरन की पुस्तक "भारतीय चिंतन परम्परा" में भक्ति आंदोलन नाम से एक स्वतंत्र अध्याय है। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इसका अध्ययन करना चाहिए। उनकी पुस्तक के उल्लिखित अध्याय का यह अंश उपर्युक्त संदर्भ में पठनीय है :

"भक्ति आंदोलन के रचनाकारों ने सांस्कृतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय नवजागरण का रूप धारण किया; सामाजिक विषयवस्तु में वे जातिप्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यंत महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे। इस आंदोलन ने भारत में विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों के उदय को नया बल प्रदान किया, साथ ही राष्ट्रीय भाषाओं और उनके साहित्य की अभिवृद्धि का मार्ग भी प्रशस्त किया। व्यापारी और दस्तकार, सामंती उत्पीड़न का मुकाबला करने के लिए, इस आंदोलन से प्रेरणा प्राप्त करते थे। यह सिद्धान्त कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य - फिर वे ऊँची जाति के हों अथवा नीची जाति के - समान हैं, इस आन्दोलन का ऐसा केंद्रबिंदु बन गया जिसने पुरोहित वर्ग और जाति प्रथा के आंतक के विरुद्ध संघर्ष करने वाले आम जनता के व्यापक हिस्सों को अपने चारों ओर एकजुट किया।" (वही, पृ० 327)

उदीयमान व्यापारी पूंजीवाद के एकदम शुरुआती समय अर्थात् चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में मनुष्य की समानता और समस्त जनता की एकता पर जोर दिया जाना ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप एक ऐसा बोध और आह्वान था जो जातपात और धार्मिक भेदभाव पर आधारित तुच्छ सामाजिक विभाजनों को समाप्त करना चाहता था, चूंकि ये विभाजन घरेलू राष्ट्रीय बाजार के विकास के रास्ते में बाधा उत्पन्न करते थे, आर्थिक संबंधों में हो रहे परिवर्तनों को रोकते थे और व्यक्ति के गुणों तथा योग्यताओं को अनदेखा करते थे। उदीयमान व्यापारी पूंजीवाद की आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति की दृष्टि से धार्मिक वेशभूषा और आध्यात्मिक तर्क-वितर्क के चोगे में प्रारंभिक भक्ति आंदोलन स्वतंत्रता, खासतौर पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और जातपात के श्रेणीक्रम से सामाजिक मुक्ति की ऐतिहासिक आकांक्षाओं के एक विराट जनजागरण का अग्रदूत बनकर प्रकट हुआ था। किंतु उसकी सीमाएँ थीं। तभी यह आंदोलन सत्रहवीं सदी आते-आते शास्त्रीय पुरोहितवाद के द्वारा जीत लिया गया और इसपर सर्वत्र हिन्दू समाज का रूढ़िवाद हावी हो गया। तुलसीदास अपनी रचनाओं में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक प्रवर्तकों की जिस भाषा में भर्त्सना करते हैं, खिल्ली उड़ाते हैं और वैदिक-पौराणिक संस्कृति के मानमूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा करते हैं, उससे भी उपर्युक्त निष्कर्ष को स्पष्ट रूप में समझने में मदद मिलती है। तुलसीदास से संबंधित पाठ में भक्तिकाल की ऐतिहासिक परिणतियों का यह परिप्रेक्ष्य विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ आपके मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा कि जनजागरण का यह विराट आंदोलन विफल क्यों हो गया? इस प्रश्न का बहुत अच्छा उत्तर श्री के. दामोदरन ने दिया है। उनका कहना है कि "भक्तिकाल की अपनी सीमाएँ थीं। यह सच है कि सामूहिक प्रार्थनाओं, नृत्यों और संकीर्तनों से संतों का व्यक्तित्व जनता की सृजनात्मक क्षमता को प्रेरणा प्रदान कर रहा था। उनके व्यक्तित्व ने जनता में एक नई चेतना जगायी और क्रियाशीलता के लिए विशाल जनसमुदाय में नई स्फूर्ति पैदा की। उसने सामंतवाद के अंतर्गत फैले जातिवादी और धार्मिक अलगाव को भी खत्म किया। किंतु धर्म के लिए प्रेरणा मूलतः संवेदनात्मक अधिक होती है, तर्क करने अथवा युक्तिपूर्वक सोचने का अवसर कम मिलता है। अतः धार्मिक भावना न तो सामाजिक समस्याओं के तर्कसंगत विश्लेषण के लिए सक्षम है, न ही इन समस्याओं का युक्तियुक्त समाधान ढूँढ निकालने में वह अधिक सफल होती है। भक्ति आंदोलन ने आम जनता में जागृति तो पैदा की किंतु वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मौजूद असंगतियों के वास्तविक कारणों को समझने और मानव के दुखों और पीड़ाओं के नूतन समाधान प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुआ। यही एक मुख्य कारण है कि इस आंदोलन की परिणति, जिसने सामंती उत्पीड़न और पुरोहिती रूढ़िवाद के विरुद्ध जनता को संयुक्त किया था, अन्ततः घोर संकीर्णतावाद में हुई। सिक्ख धर्म की विकासप्रक्रिया इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।" (वही, पृष्ठ 335-36)

इसकी एक परिणति तुलसीदास में हुई, दूसरी परिणति सिकखों के सांप्रदायिक रूढ़िवाद में हुई और तीसरी परिणति रीतिकाल में राधाकृष्ण के बहाने परकीया स्त्री के शृंगारवर्णन, नायक-नायिका भेद और सामंती संरक्षण में रचित दरबारी साहित्य के रूप में हुई।

सामाजिक-आर्थिक इतिहास में झांक कर श्री के० दामोदरन ने यह भी बताया कि "यदि यह आंदोलन सदा के लिए सामाजिक असमानताओं और जातिप्रथा से उत्पन्न अन्यायों को खत्म नहीं कर सका, तो संभवतः इसका मुख्य कारण यह था कि कारीगर, व्यापारी और दस्तकार, जो इस आंदोलन के प्रधान आर्थिक आधार थे, अब भी कमजोर और असंगठित थे।" (वही, पृष्ठ 337)

इतिहासकार इरफान हबीब की यह मान्यता है कि इससे पहले कि हिन्दुस्तान के अंदर धीमी गति से उदित होने वाला व्यापारी पूंजीवाद सामंतवाद पर विजय पाता, विज्ञान, तर्कशीलता तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में अपना समुचित विकास कर हिन्दुस्तान को प्रगति की नई मंजिल पर पहुँचाता, मुगल शासन के उत्कर्ष काल में ही उसकी अवनति शुरू हो गई। अकबर के शासन के दौरान कठुरपंथी इस्लाम और कठुरपंथी हिन्दुत्व के झंडे के नीचे प्रौद्योगिकी, ज्ञानोन्मेष और लौकिक जीवन के प्रति तर्कशील दृष्टिकोणों को आगे ले चलने वाली ताकतों को पीछे हटना पड़ा। इतिहास की संक्रमणशील अवस्था के इसी दौर में अर्थात् सत्रहवीं सदी में यूरोप का व्यापारी पूंजीवाद आ धमका जिसके पास विज्ञान की अभ्युदयशील नई शक्ति थी और देशदेशान्तर पर प्रभुत्व हासिल करने वाले समुद्री बेड़े भी। मुगल शासन का अधिकृत इतिहास लिखने वाले अबुल फजल के हवालों से भी इन्हीं तथ्यों की पुष्टि होती है।

भक्तिकाल के अंतिम दौर में उसकी रूढ़िवादी परिणति और शास्त्रीय पुरोहितवाद की निर्विवाद पुनः प्रतिष्ठा को समझने के लिए इतिहास के इस आधारभूत नियम पर गौर करना आवश्यक है कि भक्ति आंदोलन के प्रारंभ से ही उसके अंदर परस्पर विरोधी दो प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं। एक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व सरहपा, गोरखनाथ, ज्ञानेश्वर, नामदेव, बाबा शेष फरीद आदि की विरासत को संशोधित-परिष्कृत करने वाले संत काव्यधारा के रचनाकार कर रहे थे। दूसरी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व अद्वैत वेदान्त के व्याख्याताओं में रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि के विभिन्न संप्रदाय कर रहे थे।

भक्ति आंदोलन के इस द्वन्द्व अथवा अंतर्विरोध पर अनेक समालोचकों ने नये सिरे से विचार किया है। हिन्दी समालोचना में लम्बे अरसे तक यह समझा जाता रहा कि मध्ययुग के इतिहास और भक्तिकालीन साहित्य के भीतर अंतर्निहित अंतर्विरोध की व्याख्या की कुंजी हिन्दुत्व और इस्लाम के संघर्ष में मिलती है। इस दृष्टिकोण को श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी आदि ने पल्लवित किया था। लम्बे समय से बद्धमूल इस धारणा का खंडन करने और नयी दृष्टि से सोचने की प्रेरणा सबसे पहले डॉ. रामविलास शर्मा की ओर से आई। "आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना" नामक पुस्तक में उन्होंने मध्यकाल के हिन्दू सामंतों, पांडों, पुरोहितों आदि की भूमिका का प्रश्न उठाकर व्याख्या का नया सूत्र उपलब्ध कराया : "जो लोग इस्लाम और हिन्दू धर्म की टक्कर में मध्यकालीन समाज की आशा-निराशा का स्रोत ढूँढते हैं वे उस समय के साहित्यिक आंदोलनों के सामाजिक आधार का सही-सही पता नहीं लगा सकते।" (वही, पृष्ठ 86, संस्करण 1955)

डॉ. रामविलास शर्मा से पहले भक्तिकाल के उद्भव की व्याख्या के संदर्भ में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के सांप्रदायिक आग्रह को खारिज करते हुए एक लम्बा निबंध 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक से लिखा था और मध्ययुग के लोकजीवन के भीतर की उस शक्ति की ओर इशारा किया था जो उसे "स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 15)

भक्तिकालीन भारतीय समाज के भीतर उभर रहे मूलभूत अंतर्विरोध की खोज करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने "दूसरी परम्परा की खोज" में जो निष्कर्ष निकाला है, वह डॉ० राम विलास शर्मा और हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा बताये गये सूत्रों का ही नया रूपान्तर है। नामवर सिंह का कहना है : "मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व है, न कि इस्लाम और हिन्दूधर्म का संघर्ष।" (वही, पृष्ठ 77) अपनी इस स्थापना के निहितार्थ को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह प्रख्यात मार्क्सवादी इतिहासकार जॉन इरविन के एक लेख 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति के भीतर वर्ग संघर्ष' (द क्लास स्ट्रगल इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर, द माडर्न क्वार्टली, जिल्द 1, संख्या 2, लंदन, मार्च 1946) से एक बड़ा उद्धरण देते हैं। इस उद्धरण

पर गौर करना आवश्यक है। वह इस प्रकार है : 'ऐसे समय आते रहे हैं जब आर्य लोग अपनी आत्मसात कर लेने की प्रवृत्ति को खो देते रहे हैं और परिणाम यह होता था कि ब्राह्मणवादी निरंकुशता पहले से ही आर्थिक दृष्टि से दलित जनता पर निष्ठुरतापूर्वक लाद दी जाती थी। ऐसी परिस्थिति में संकट अनिवार्य था। दलित जनशक्तियाँ रूढ़िवाद के स्तर के नीचे वेग से संगठित होने लगती थीं और एक खुले विद्रोह की भूमिका तैयार हो जाती थी। बौद्ध धर्म का प्रारंभिक इतिहास, वस्तुतः ऐसा ही था जिसने ब्राह्मणवादी कर्मकांड के विरुद्ध जनव्यापी विद्रोह का रूप धारण कर लिया था।' जॉन इरविन के उक्त लेख का दूसरा उद्धरण भी गौर करने लायक है जो भक्तिकाल के प्रारंभिक रचनाकारों, मुख्यतः संतों और वैष्णवों के साहित्य पर प्रकाश डालता है : 'ये संप्रदाय ब्राह्मण धर्म की अनुदारता के विरुद्ध व्यापक जनविद्रोह के रूप में जनता द्वारा अपनाये गये। ये आंदोलन रहस्यवादी प्रकृति के थे और व्यक्ति को जाति तथा रूढ़ियों की परवाह किये बगैर अपने ढंग से पूर्णता प्राप्त करने का आह्वान करके ब्राह्मणों के पुरोहितवाद को सीधे चुनौती दे रहे थे। इस प्रकार लोकसंस्कृति वह मुख्य माध्यम बन गई जिसके द्वारा यह धार्मिक विद्रोह जनता में फैल गया और कालक्रम से उन आंदोलनों के समान ही, लोक संस्कृति, उच्चवर्गीय आचार संहिता की अवज्ञा का साधन बन गई। इसका परिधान हमेशा एक समृद्ध मानववाद रहा जिसमें जीवन की पूर्ण स्वीकृति और ऐन्द्रिक उपभोग का भाव निहित था और इस प्रकार यह भावना तपस्या और उपासना पर बल देने वाले कट्टरपंथ के सर्वथा विपरीत थी।' (दूसरी परंपरा की खोज' में उद्धृत, पृष्ठ 77-78) जॉन इरविन के निष्कर्ष का यह अंश संतों और वैष्णवों की बानियों तथा पदों के सारस्त्व पर अपना काल्पनिक आग्रह चस्पों कर देता है। अतः उल्लिखित रेखांकित वाक्यांश से सहमत होना मुश्किल है। नामवर सिंह ने इस पहलू को अनदेखा कर दिया है। सारे संत और वैष्णव रचनाकार लौकिक जीवन और ऐन्द्रिक उपभोग का तिरस्कार करते हैं। जॉन इरविन संभवतः संतों के साहित्य से पूरी तरह परिचित न थे, इसलिए यह गलती हुई है।

अगर आप इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच अंतर्विरोध को कुंजी बनाकर भक्ति साहित्य की व्याख्या करेंगे तो फिर यह आपकी विवशता होगी कि आप कबीर को इस्लाम का या हिन्दुत्व का प्रवक्ता मानें, जबकि कबीर न तो इस्लाम का प्रतिनिधित्व करते हैं और न हिन्दुत्व का। इस प्रकार की गलती अनेक समालोचकों ने की है। डॉ. धर्मवीर की अभी-अभी प्रकाशित पुस्तक 'कबीर के आलोचक' में इसी समस्या का विशद विवेचन किया गया है। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की 1916 में प्रकाशित पुस्तक 'कबीर वचनावली' में कबीर तथा कबीर पंथ को हिन्दू धर्म की एक शाखा वैष्णव मत के अंतर्गत परिगणित किया गया है। इस निष्कर्ष पर तीखी टिप्पणी करते हुए डॉ. धर्मवीर कहते हैं : 'हरिऔधजी का कबीर के दर्शन के बारे में यह निचोड़ तब है जब वे अच्छी तरह से जानते हैं कि कबीर ने अवतारवाद, देववाद, वर्णाश्रम धर्म, मूर्तिपूजा, कर्मकांड, व्रत-उपवास और तीर्थयात्रा का जमकर खंडन किया है। कबीर ने इन धार्मिक बातों का विरोध करने में किसी संदेह की गुंजाइश नहीं छोड़ी। यदि कबीर तब भी वैष्णव धर्म के हैं तो क्या हरिऔध जी का कोई भी रामानन्दी वैष्णव इन बातों में से किसी एक बात का भी कबीर की तरह खंडन कर सकता है?' (वही पृष्ठ 27)। कबीर और संतमत का अनुशीलन करने वाले हिन्दी के बड़े-बड़े विद्वानों ने कितनी भ्रांति फैलायी है, कितना भयंकर गड़बड़झाला किया है इसका उदाहरण हरिऔध जी का यह निष्कर्ष भी है कि कबीर द्वारा अवतारवाद और मूर्तिपूजा का खंडन मूलतः "प्राचीन आर्य धर्म का अवलम्बन" मात्र है तथा "कबीर साहब अंत में वेदान्त धर्मावलम्बी हो गये थे।" (कबीर वचनावली, पृष्ठ 53-54 तथा पृष्ठ 85) डॉ. धर्मवीर कबीर को आर्यधर्म, वैदिक परम्परा और इस्लाम का विरोधी सिद्ध करते हैं। उनकी मान्यता है : 'वे साफ-साफ कहते हैं कि मैं हिन्दू नहीं हूँ, कोई मेरे मत की हिन्दू व्याख्या न करे, मेरा वेदों से विरोध है, हिन्दू धर्म के अवतारों को मैं नहीं मानता, लेकिन इसके बाद भी अयोध्या सिंह द्वारा इस पुस्तक में बार-बार हिन्दू लिखा गया है। अयोध्या सिंह की यही ब्राह्मणी दृष्टि इस बात के लिए जिम्मेदार है कि दलित समाज के धर्म की अलग पहचान नहीं बनने दी जाती। उनका अपना धर्म अलग है, उस धर्म की अलग परिभाषा है, लेकिन हिन्दू लेखक इसे जबरन अपने में मिलाना चाहते हैं। इस प्रकार दलितों द्वारा किये गये धार्मिक विद्रोह के सारे इतिहास को नाममात्र को और ऊपर-ऊपर से हिन्दुओं द्वारा अपने में समा लेने की गुप्त प्रक्रिया ही कबीर के पृथक धर्म की स्थापना में अड़चन और फलस्वरूप असफलता है। यह तो कोई बात नहीं हुई कि चूँकि कबीर ईश्वर को मानते हैं और हिन्दू भी ईश्वर को मानते हैं, इसलिए कबीर हिन्दू सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे तो ईसाइयों और मुसलमानों को हिन्दू कहना पड़ जाएगा।' (वही पृष्ठ 40) डॉ. धर्मवीर की इस पुस्तक में आचार्य शुक्ल के इस मत का भी खंडन किया गया है कि कबीर, रैदास, दादू आदि संतों की बानियों में "ज्ञान का जो थोड़ा-बहुत अवयव है, वह भारतीय वेदान्त का है।" (जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ 120)।

श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी, माता प्रसाद गुप्त आदि कबीर के विद्रोही तेवर के प्रशंसक नहीं माने जाते। पर हजारी प्रसाद द्विवेदी तो कबीर के बहुत बड़े प्रशंसक माने जाते हैं। डॉ. धर्मवीर कबीर की विचारधारा की सही-सही समझ और पहचान के मामले में हिन्दी आलोचना के गड़बड़झाले में हजारी प्रसाद द्विवेदी के योगदान को अचूक ढंग से उद्घाटित करते हुए कहते हैं :

“जो कबीर कहते हैं डॉ. द्विवेदी उस बात को उसी तरह से नहीं लेते। वे इसमें अपनी ब्राह्मणी नमकमिर्च लगाते हैं। कबीर को आरपार देखने का एक साफ कबीरी दर्पण है। लेकिन वे उस कबीरी दर्पण को हटाकर ब्राह्मणी दर्पण से कबीर को देखना चाहते हैं। फलतः उनके लिए कबीर एकदम दुर्बोध हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में कबीर स्पष्ट शब्दों में वेद का विरोध करते हैं। लेकिन डॉ. द्विवेदी को यह सिद्ध करना है कि वे वेद मत के समर्थक थे, कबीर पुराण और मूर्तिपूजा के विरोधी हैं लेकिन डॉ. द्विवेदी को यह सिद्ध करना है कि कबीर का दर्शन पुराणों से ही निकला है। कबीर रामानन्द को अपना गुरु नहीं मानते लेकिन डॉ. द्विवेदी को कबीर से ज्यादा इस जनश्रुति को प्रश्रय देना है कि कबीर के गुरु रामानन्द थे। यदि डॉ. द्विवेदी वेद, पुराण और रामानन्द के चर्मों के बिना कबीर को समझने का प्रयत्न करते तो उनके लिए कबीर दुर्बोध नहीं रह जाते।” (वही पृष्ठ 77) डॉ. द्विवेदी वैदिक-पौराणिक रस्सों, चर्मों, चौखटों से बंधे हैं, अतः वे कबीर के वेद-विरोधी विस्फोट को “वैदिक और पौराणिक व्याख्या के बर्तनों में संभालना चाह रहे थे।” (वही, पृष्ठ 77)।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक “कबीर” से डॉ. धर्मवीर ने अनेक ऐसे उदाहरण देकर यह बताया है कि द्विवेदी जी में भी वैदिक-पौराणिक संस्कृति का चौखटा कितनी गहराई के साथ बद्धमूल है। उदाहरण के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस निष्कर्ष को लिया जा सकता है - “चाहे कबीर साहब हों अथवा पन्द्रवीं सदी के दूसरे निर्गुणवादी, उन सबके मार्ग-दर्शक गुप्त रूप से पुराण ही हैं।” (कबीर, पृष्ठ 117)

हिन्दी आलोचना में बद्धमूल वैदिक-पौराणिक विचार-दृष्टि से लिपटे मूल्यांकनों का मकड़जाल कबीर साहित्य की समालोचना पर भी फैला हुआ है। इससे मुक्त होकर ही कबीर को सही ढंग से समझा जा सकता है।

### 5.3 आज के संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन

अतीत के अनेक रचनाकारों का कृतित्व साहित्यिक इतिहास और सांस्कृतिक संग्रहालय का मृत अंश बन चुका है। पर कबीर का साहित्य इस प्रकार का अप्रासंगिक और निष्प्राण साहित्य नहीं है। आज की विचारधारात्मक उठापटक और सामाजिक वितंडावाद के बीच अनेक बार कबीर की बानियों के हवाले दिये जाते हैं; उनकी उक्तियों की सार्थकता बतायी जाती है और उन्हें आज के सवर्ण हिन्दूवादी आग्रहों तथा मुस्लिम कट्टरपंथ से लड़ने के लिए बुलावा दिया जाता है।

आपको संभवतः यह भी मालूम होगा कि विगत साहित्यिक विरासत के मूल्यांकन, भक्तिकाल के मूलभूत अंतर्विरोधों की परीक्षा तथा साहित्य में रहस्यवाद की भूमिका को लेकर पिछले पचास वर्षों की हिन्दी समालोचना में जितने विवाद हुए हैं, सारे विवादों के केंद्र में कबीर ही रहे हैं। उनके साहित्य पर आचार्य शुक्ल की टिप्पणियों को लेकर भी कम बहस नहीं रही है। यहाँ तक कि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ‘कबीर’ नाम से एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिख दी। इसके बावजूद अभी तक विवाद थमा नहीं है। अभी पिछले अरसे में ही नामवर सिंह ने “दूसरी परम्परा की खोज” नामक पुस्तक में कबीर की पुनः प्रतिष्ठा के क्रम में मार्क्सवादी साहित्य समीक्षा को खंगालने का एक विचारोत्तेजक प्रयास किया है।

दरअसल अतीत के क्लासिक साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में आज की समालोचना के सामने दोहरी समस्या है - उस विशेष कालखंड में उक्त साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका तथा आज के युग में उक्त साहित्य की सार्थकता। विगत युग की क्लासिक कृतियों के तत्कालीन संपूर्ण संदर्भों में अर्थवत्ता के हर आयाम का निचोड़ प्रस्तुत करने का दायित्व आलोचना के आगे एक चुनौती की तरह होता है। इसी तरह आज उक्त कृतियों को अपने युगबोध और वर्तमान यथार्थ के अंतर्विरोधों के हर आयाम के आलोक में पढ़ना होगा, तभी हम क्लासिक साहित्य की विगत अर्थवत्ता और वर्तमान सार्थकता के बीच संबंध कायम कर पायेंगे। आलोचना के आगे यह दूसरी चुनौती है।

‘कबीर वाणी’ नामक एक पुस्तक का अभी-अभी प्रकाशन हुआ है। इसके संकलनकर्ता संपादक हैं उर्दू के प्रसिद्ध प्रगतिशील शायर अली सरदार जाफरी। इस पुस्तक की भूमिका में सरदार जाफरी ने उल्लिखित दोनों संदर्भों में अपना विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि कबीर की बानियों में “दिखावटी धर्म से विद्रोह और वास्तविक

धर्म के प्रचार का क्रांतिकारी पहलू यह था कि उसने मध्ययुग के मनुष्य को आत्मप्रतिष्ठा, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास दिया और मनुष्य को मनुष्य से प्रेम करना सिखाया। संतों और सूफियों के पास उतनी ताकत तो थी नहीं कि वे उस अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ सकते जिनका केंद्र शाही दरबार और अमीरों के महल थे। इसलिए उन्होंने उनकी तरफ से बड़े तिरस्कार के साथ मुँह फेर लिया और संतोष और धीरज का उपदेश दिया। संतोष का अर्थ वैराग्य नहीं था बल्कि बादशाहों, दरबारियों, और अमीरों से विमुख होकर व्यापार और शारीरिक श्रम से रोजी कमाना था जिसका आदर्श कबीर ने पेश किया था। उस युग में व्यापार को राजसेवा के मुकाबले में तुच्छ समझा जाता था। इसलिए व्यापार और शिल्प की आमदनी पर संतोष करना और ईश्वर का उपकार मानते हुए जीवन व्यतीत करना ही सबसे बड़ा संतोष था।" (कबीर वाणी, पृष्ठ 34)

विगत युग में कबीर के कृतित्व का सारतत्व प्रस्तुत करने के बाद सरदार जाफरी ने आज के युग-संदर्भ में अपना मंतव्य इस प्रकार रखा है :

"हमें आज भी कबीर के नेतृत्व की जरूरत है, उस रोशनी की जरूरत है जो इस संत के दिल से पैदा हुई थी। आज दुनिया आजाद हो रही है। विज्ञान की असाधारण प्रगति ने मनुष्य का प्रभुत्व बढ़ा दिया है। उद्योगों ने उसके बाहुबल में वृद्धि कर दी है। मनुष्य सितारों पर कमर्से फेंक रहा है। फिर भी वह तुच्छ है, संकटग्रस्त है, दुःखी है। वह रंगों में बंटा हुआ है, जातियों में विभाजित है। उसके बीच धर्मों की दीवारें खड़ी हुई हैं। सांप्रदायिक द्वेष है, वर्ग संघर्ष की तलवारें खिंची हुई हैं।" (वही, पृष्ठ 35)

जातियों, धर्मों, वर्गों आदि में विभाजित समाज की संकटग्रस्तता के समय कबीर का साहित्य प्रासंगिक हो जाता है, चूंकि मध्ययुगीन समाज की लगभग ऐसी ही चुनौतियों और उथलपुथल के बीच उन्होंने महान ऐतिहासिक भूमिका निभायी थी। कबीर युगसंधि के उस काल में उत्पन्न हुए थे जब भिन्न-भिन्न धर्मसाधनाओं और सामाजिक विचार-प्रवृत्तियों के बीच अंतहीन टकराहट का सिलसिला शुरू हो गया था। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर युगसंधि के ऐसे ही चौराहे पर उत्पन्न हुए थे। "वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी योगी (अग्रहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानो प्रतिमूर्ति थे।" (हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, पृष्ठ 77) कबीर के संबंध में हजारी प्रसाद द्विवेदी के निम्नलिखित उद्धरण की अक्सर चर्चा की जाती है: "कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिंदु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है, दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग; जहाँ एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये मार्गों के गुणदोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।" (वही, पृष्ठ 77-78)

कबीर ने शास्त्रीय ग्रंथों और पोथियों के ज्ञान को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था, चूंकि यह पुराना ज्ञान मनुष्य-मनुष्य के बीच स्वाभाविक प्रेमपूर्ण संबंध के रास्ते में अवरोध बन गया था। सारे धार्मिक मतवादों, साधनापद्धतियों, उपासनामार्गों, कर्मकांडों, और ब्राह्म्याचारों का खंडन कर आत्मचेतना, आत्मतत्व, अंतःसाक्षात्कार, मनुष्य की आत्मा की निर्मलता और मानवीय सद्भाव की सहजता को नये लोकधर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए वे संघर्ष चला रहे थे। जनसाधारण की भाषा में वे नयी विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। अहंकार से मुक्ति, सदाचार के पालन और इन्सानी रिश्ते में आपसी प्यार की नयी नैतिकता का वे पाठ पढ़ा रहे थे। डॉ. रामकुमार वर्मा की दृष्टि में "कबीर ने धर्म और जीवन में कोई भेद नहीं रहने दिया। जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति ही धर्म का सोपान है। जिस धर्म के लिए जीवन की स्वाभाविक और सात्विक गति एवं मति में परिवर्तन करना पड़े, उसे हम धर्म की संज्ञा नहीं दे सकते।" (हिन्दी साहित्य (द्वितीय खंड) संपादक धीरेन्द्र वर्मा एवं ब्रजेश्वर वर्मा - पृष्ठ 212)। नये मानववाद की स्थापना के लिए यह अद्भुत प्रकार का आंदोलन था। सभी धर्मों, सभी पंथों, सभी मत-मतान्तरों को खारिज कर वे एक तत्व पर जोर दे रहे थे, जिसे कुछ विद्वान एकेश्वरवाद की संज्ञा देते हैं, कुछ विद्वान अद्वैतवाद के नाम से अभिहित करते हैं और कुछ लोग निर्गुणवाद कहते हैं। यह अनुभव पर आधारित नया ज्ञान था - अतः अनेक विद्वान कबीर के मत को ज्ञानमार्ग की भी संज्ञा देते हैं। एक तत्व पर शास्त्रीय ग्रंथों, धार्मिक आडम्बरों और मनुष्य के अहंकार के कारण पर्दा पड़ा हुआ है। पुराने ज्ञान और आडम्बर और अहंकार से मुक्त होकर ही उस एक तत्व को पाया जा सकता है :

हरि है खांड रेतु महि बिलरी, हाथी चुनी न जाई।  
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कीटी होई कै खाई।।

हरि तो खांड की तरह है जो संसार रूपी रेत में बिखरा हुआ, फैला हुआ, मौजूद है। अंकार और मद से उन्मत्त मन रूपी हाथी उसे चुन नहीं सकता। कबीर का कहना है कि गुरु ने उन्हें भलीभांति समझाबुझा दिया है कि अपनी सहज और सूक्ष्म शक्ति से कीट की तरह अथवा चींटी की तरह उस खांड को पाया जा सकता है। मैं यही कर रहा हूँ।

हरि, ईश्वर, राम, गोविन्द आदि उस परम तत्व के ही प्रतीक हैं। कबीर के यहाँ ईश्वरतत्व और मानवप्रेम दोनों अभिन्न हैं। उसे पिता रूप में, माँ के रूप में, मित्र के रूप में, पति रूप में, प्रेयसी के रूप में - सभी प्रकार के मानवीय रिश्तों द्वारा सहज ही पाया जा सकता है।

जातिप्रथा और वर्णाश्रम व्यवस्था पर जितनी चोट कबीर ने की थी, उतनी मध्ययुग में किसी ने भी न की थी। कबीर की बानियों की तात्त्विक मीमांसा के क्रम में प्रायः सभी समालोचकों ने यह सिद्ध किया है कि कबीर ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इन विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि कबीर निर्गुण ईश्वर, अज्ञात परमसत्ता या सृष्टि के रचयिता ब्रह्म के अस्तित्व में विश्वास करते हैं पर श्री कबीर मंदिर बड़हरा के संत अभिलाष दास इन मान्यताओं का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि कबीर ब्रह्मवाद नहीं मानते बल्कि जीवात्मा को ही एक मात्र परम तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। कबीर के पदों की व्याख्या का सर्वथा नया वैचारिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हुए श्री अभिलाष दास ने अपना अलग निष्कर्ष निकाला है :

“यह चेतन जीव ही परम तत्व है। सारी कला-कल्पनाएँ, सारे ज्ञान-विज्ञान इसी के हैं। जीव ही ईश्वर-ब्रह्म, देवी-देवता तथा भूतप्रेत की कल्पना करने वाला तथा वेद, बाइबिल, कुरान आदि शास्त्रों का रचने वाला है। अतः जीव ही सर्वोपरि है। सद्गुरु पहली ही रमैनी में कहते हैं ‘एक जीव कित कहुँ बखानी।’ अर्थात् एक जीव ही सत्य है, मैं विशेष वर्णन करके क्या कहूँ।” (कबीर - व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ 106)

विश्वविद्यालयों के हिन्दी जगत तथा हिन्दी समालोचना क्षेत्र के विद्वानों के बीच कबीर के दर्शन और उनकी विचारधारा पर नये सिरे से विवेचन-विश्लेषण की आवश्यकता महसूस की जा रही है क्योंकि ब्राह्मणवादी चिंतनप्रणाली से कबीर की बानियों की सुसंगत व्याख्या हो नहीं पा रही। परन्तु अभिलाष दास की व्याख्याएँ कबीर के अभिप्रायों को कहीं अधिक सहज तथा सुसंगत रूप में पेश करती हैं। इन व्याख्याओं से यह भी स्पष्ट होता है कि कबीर अगम, अगोचर, परोक्ष, निर्गुण के समर्थक न होकर इहलौकिकता और जीववाद के समर्थक थे। उदाहरण के लिए अभिलाष दास निम्नलिखित साखी की जो व्याख्या करते हैं, उस पर गौर कीजिए :

साँच कहाँ तो है नहीं, झूठि लागु पियारि।  
मो शिर दारे डेंकुली, सींचे और कि क्यारि।।

अर्थात् यदि सच्ची-सच्ची कहूँ तो कहना पड़ेगा कि परमात्मा है ही नहीं। पर लोग यह नहीं मानते और झूठी बात ही उन्हें पसंद आती है; झूठी बातें ही उन्हें प्रिय लगती हैं। लोग मेरे सिर पर डेंकुली ढारते हैं और दूसरे की क्यारी सींचते हैं अर्थात् अनुयायी मेरा कहलते हैं और परिपोषण दूसरे मतों का करते हैं।

इसी तरह निम्नलिखित पद की व्याख्या पर ध्यान दीजिए -

अलख निरंजन लखै न कोई। जेहि बंधे बाँधा सब लोई।  
जेहि झूठे सब बाँधु अयाना। झूठा वचन साँच कै माना।।

अर्थात् अलक्षित परब्रह्म को किसी ने देखा नहीं। पर अचरज की बात है कि परब्रह्म परमेश्वर की अवधारणा से सब लोग बंध गये हैं। जिस झूठ की मान्यता में सब अज्ञानी बंधे हैं, उस झूठे वचन को उन्होंने सच्चा करके मान रखा है।

यहाँ मैंने कबीर साहित्य के अध्ययन की इस नई दिशा की ओर संकेत मात्र किया है। विस्तृत जानकारी के लिए अभिलाष दास कृत “बीजक पारख प्रबोधिनी व्याख्या” और “कबीर दर्शन” नामक पुस्तकों का गंभीरता से



अध्ययन आवश्यक है। व्याख्या, आस्वादन, वैचारिक विश्लेषण और मूल्यांकन की दृष्टि से हिन्दी समालोचना किस तरह ब्राह्मणवादी आग्रहों और कसौटियों से ग्रस्त है, यह 'कबीर के आलोचक' नामक पुस्तक के लेखक डॉ. धर्मवीर दिखला चुके हैं। अतः वैदिक-पौराणिक सांस्कृतिक दृष्टि पर पुनर्विचार की प्रक्रिया में कबीर एक जटिल समस्या बनकर आ खड़े हुए हैं मानो आज भी कह रहे हों -

“यह जग अंधा में केहि समझावौ। घर की वस्तु नजर नहिं आवत, दियना बारि के हूँहत अंधा।”

इधर समकालीन कवियों-कलाकारों के बीच कबीर पथप्रदर्शक बनकर आ गये हैं। अभी पिछले दिनों भीष्म साहनी द्वारा लिखित नाटक 'कबिरा खड़ा बाजार में' की, रंगमंच पर एम.के. रैना ने नाट्य-प्रस्तुति की थी। केदारनाथ सिंह के नये कवितासंग्रह में 'उत्तर-कबीर' नाम से एक लम्बी कविता है जो आज के यथार्थ की विडंबनाओं को उलटबाँसी की शैली में प्रस्तुत करती है।

कथ्य और सांकेतिक व्यंजनाओं के कारण कबीर की बानियां आज के पाठकों को समकालीन जीवन के बदले हुए संदर्भों में उतनी ही झकझोरती हैं, जितना मध्यकालीन यथार्थबोध के संदर्भों में। इसीलिए कबीर के साहित्य पर कालदेवता का वश नहीं चलता, चूँकि धूल झाड़कर हर-चुनौती के मौके पर वह बहस के अखाड़े में मुस्तैद होकर खड़ा हो जाता है।

## 5.4 कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव

कबीर की बानियों की काव्यात्मक बुनावट पर तथा उनकी विचारधारा पर सिद्ध साहित्य, नाथपंथी योगियों के साहित्य तथा मराठी संत कवियों में ज्ञानेश्वर तथा नामदेव के साहित्य का गहरा प्रभाव है। कबीर ही नहीं संपूर्ण संत साहित्य आठवीं-नौवीं सदी से चली आ रही विभिन्न अवैदिक साधना पद्धतियों से काफी-कुछ ग्रहण करता है, पर अपनी विचारधारा का भी स्वतंत्र रूप में विकास करता है। इसलिए यह भ्रम हम-सबको नहीं होना चाहिए कि कबीर की विचारधारा नाथपंथ की नकल मात्र है। उसका अपना स्वतंत्र स्वरूप है। यद्यपि कबीर बौद्धों से भी बहुत-कुछ लेते हैं, योगियों और तांत्रिकों से भी, पर कबीर न तो बौद्ध हैं, न हठयोगी, न नाथपंथी। पन्द्रहवीं सदी की ठोस सामाजिक वास्तविकताओं और वैचारिक चुनौतियों के बरक्स कबीर की विचारधारा क्रमशः और उत्तरोत्तर विकसित होती है। बौद्ध धर्म का जब हास हुआ तो आठवीं-नौवीं सदी तक आते-आते वह तंत्र-मंत्र की साधना में बदल गया और उसके अपने बाह्याचार तथा कर्मकांड भी बन गये। वज्रयान और महायान नामक शाखाओं में विभक्त बौद्ध भिक्षुओं के साधना-संबंधी पदों में काया योग, सहज शून्य की अवस्था तथा समाधि जन्म भावदशाओं का वर्णन मिलता है। इसी साहित्य को 84 सिद्धों का साहित्य कहा जाता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में सिद्ध साहित्य के "पदों की योजना इस प्रकार की है कि ऊपर से उससे कुत्सित लोक-विरुद्ध अर्थ प्रकट हो, या परस्पर विरोधी अनर्थक बातें प्रतीत हों, किंतु साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी प्राप्त होने पर साधनात्मक विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाए।" (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृष्ठ 15) इन्हीं रचनाओं को उलटबाँसियों की संज्ञा दी जाती है। कबीर ने भी ऐसी उलटबाँसियों की रचना की है। इन्हें कूट पद या अन्योक्ति शैली के पद मानने में हिन्दी के विद्वानों को कोई कठिनाई नहीं रही है। नाथपंथी योगियों में खासकर मछेंदरनाथ और गोरखनाथ के भी ऐसे कूट पद मिलते हैं। उलटबाँसी की यह काव्यपरम्परा निरगुनिया संतों की बानियों में अपने परिपक्व और समृद्ध रूप में देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए कबीर का निम्नलिखित पद देखा जा सकता है:

एक अचंभौ देखा रे भाई।

ठाढ़ा सिंघ चरावे गाई।।टेक।।

पहिलै पूत पिछे भई माई, चेला कै गुर लागै पाई।

जल की मछरी तरवरि ब्याई, कृता कौ लै गई बिलाई।

बैलहि डारि गौनि घरि आई, घोरै चढ़ि भैस चरावन जाई।

तलि करि साखा उपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।

कहै कबीर या पद कौ बूझै, ताकौं तीनिउं त्रिभुवन सूझै।।

कबीर कहते हैं कि हे भाई, मैंने एक अचंभा देखा कि सिंह खड़ा होकर गाय चरा रहा है। पहले पुत्र हुआ, पीछे माता हुई। गुरु शिष्य के पैर छूता है। जल में विचरने वाली मछली पेड़ के ऊपर बच्चा देती है। बिल्ली कुत्ते का शिकार कर उठा ले जाती है। अनाज की थैली बैल को बाहर छोड़कर घर वापस आ गई। भैस घोड़े पर

बैठकर उसे चराने जा रही है। पेड़ की शाखा जमीन के अंदर नीचे है और जड़ ऊपर की तरफ है। फूल डालों और टहनियों में नहीं लगते बल्कि जड़ों में खिले हुए हैं। कबीरदास कहते हैं कि जो इस रहस्य को समझता है, उसे तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है। इस पद का यह ऊपरी अर्थ है, पर उलटबाँसी के रूप में इसकी व्यंजना भिन्न है। कबीर कहते हैं कि जीव ने इन्द्रियों को वशीभूत कर लिया है (सिंह गाय को चरा रहा है)। सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद आत्मतत्त्व स्वयं जीवात्मा तक पहुँच जाता है (गुरु स्वयं शिष्य के पैर छूता है)। मूलाधार में स्थित कुंडलिनी उत्थित होकर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरंध्र अर्थात् गगनमंडल में पहुँचकर ज्ञान को जन्म देती है - अर्थ यह कि विषयोन्मुख बहिर्मुख प्रवृत्ति अंतर्मुख प्रवृत्ति के नियंत्रण में आ जाती है (बिल्ली कुत्ते को दबोच लेती है)। साधक की सिद्धावस्था में मन (अनाज की थैली, गौनी) अविवेक (बैल) को चैतन्य (घर) की ओर ले जाता है। सिद्धावस्था में इन्द्रियों (घोड़े) की सवारी निग्रहवृत्ति (भैंस) द्वारा हो जाती है अर्थात् इन्द्रियों निग्रहवृत्ति के नियंत्रण में आ जाती है। मनुष्य के शरीर की रचना ही ऐसी है कि मूल, जड़ (मस्तिष्क, ब्रह्मरंध्र) ऊपर रहता है और शाखाएँ (नाड़ी मंडल) नीचे। साधना की सिद्धावस्था में शरीर के मूल अर्थात् चैतन्य में, ब्रह्मरंध्र में, मस्तिष्क में आनन्द के फूल खिल उठते हैं। कबीर कहते हैं कि सिद्धावस्था के इस रहस्य को जो जान लेता है, उसे तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है। मूल शब्द में श्लेष है और संपूर्ण पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

आपने ध्यान दिया होगा कि इस पद में किस तरह उलटा-पुलटा बयान किया गया है। आपने इस बात पर भी गौर किया होगा कि कहना कुछ चाहते हैं, पर कहते कुछ और ही हैं। ऊटपटांग ढंग से वर्णन की इस कला में मूल मंतव्य ढँका हुआ रहता है यानी मुख्य आशय पारिभाषिक पदों और प्रतीकों के व्यंजना व्यापार द्वारा ही प्रकट होता है। सुषुम्ना, नाड़ी मंडल, ब्रह्मरंध्र, साधना, सिद्धावस्था, विषयासक्ति, इन्द्रियाँ, आनन्द, आत्मतत्त्व जैसे पारिभाषिक पद तांत्रिकों, योगियों, सिद्धों, नाथों और संतों में समान रूप से प्रचलित थे। ये सभी सम्प्रदाय इनका समान अर्थ करते थे। अतः साधना संबंधी शब्दों को कुछ प्रतीकों के साथ संयुक्त करके नये अर्थ की व्यंजना के लिए इस्तेमाल में लाया जाता था। उलटबाँसी की यह शैली सरहपाद, गोरखनाथ और कबीर में समान रूप से मिलती है। कबीर तथा अन्य संतों ने सहज समाधि के आनन्द के क्षणों की अभिव्यक्ति में कुछ नयी उद्भावनाएँ भी कीं जो नाथों और सिद्धों के पदों में नहीं मिलती हैं। 'अनभौ साँचा' अर्थात् सहज सच्चे अनुभव-ज्ञान की कसौटी भी मूलतः निरगुनिया संत कवियों ने ही विकसित की। परम तत्त्व से एकाकार होने की साधना की अभिव्यक्ति के लिए स्त्री-पुरुष प्रेम, पिता-पुत्र प्रेम, माँ-बेटे के प्रेम के रूपक के अलावा दास्य भाव की प्रेमभक्ति के साँचे का भी उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त साधक की तुलना शूर से करते हुए युद्ध के रूपकों में भी साधना के कठिन मार्ग को बतलाया गया है :

जब बजै जुझाउर बाजा, तब कायर उठि-उठि भाजा ।  
कोई सूर लड़े मैदानां, जिन मारि किया घमसानां ।।  
जहँ बाँधि सकल हथियारा, गुर ग्यान कौ खड्ग सम्हारा ।  
जब बस कियौ पांचौ धाना, तब राम भया मिहर बांना ।।  
(पदसंख्या 205, कबीर वाड.मय, खंड 2, पृष्ठ 259)

जातिप्रथा, सामाजिक भेदभाव, धार्मिक कर्मकांड, मूर्तिपूजा, बाह्याचार, छुआछूत, यज्ञ, वेद-पुराण, पंडित-पुरोहित आदि की तीखी आलोचना यद्यपि सिद्धों और नाथों की बानियों में भी मिलती है, पर एक व्यवस्थित वैचारिक साँचे में कबीर ने वैदिक-पौराणिक संस्कृति के सभी पहलुओं पर आक्रमण की नई अभिव्यक्ति-प्रणाली का प्रवर्तन किया, जिसे बाद में परवर्ती संतों तथा कबीरपंथी रचनाकारों ने और भी समृद्ध किया। दलीलों की एक अनुभवगम्य सहज लोकशैली का विकास मध्यकालीन संतकाव्य की सर्वोपरि विशेषता है। यद्यपि बाद में निर्गुण के खंडन के लिए सूरदास के भ्रमरगीत में और तुलसीदास के रामचरितमानस में भी इस शैली का अपने ढंग से विकास किया गया। पर सीधी मार करनेवाली जुबान और तर्कशक्ति का जैसा अक्सर उपन संतों की बर्नियों में मिलता है, वैसा अन्यो की रचनाओं में फिर उपलब्ध न हो सका। इस प्रसंग में यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन की गुंजाइश नहीं है। कबीर की भाषा की व्यंग्यशक्ति पर चर्चा के क्रम में विस्तार से आप इसका अध्ययन कर पायेंगे।

हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा आदि विद्वानों की मान्यता है कि कबीर आदि संत कवियों पर सिद्धों का उतना ही प्रभाव पड़ा जितना नाथपंथ के माध्यम से आ सकता था। इन विद्वानों ने नाथों और संतों के साहित्य को आमने सामने रखकर यह प्रमाणित किया है कि दोनों के बीच बड़ा गहरा संबंध है; यह संबंध प्रत्यक्ष भी है और प्रगाढ़ भी। रामकुमार वर्मा की यह टिप्पणी उल्लेखनीय है: "नाथ संप्रदाय की आचार निष्ठा, विवेक

सम्पन्नता, अंधविश्वासों को तोड़ने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकांडों की निरर्थकता संत संप्रदाय में सीधी चली आई। अनेक प्रसंगों में उनकी अभिव्यक्ति में साम्य है।” (हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, संपादक : धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक : भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग, पृष्ठ 204) जिस उल्लिखित पुस्तक में एक अध्याय के तौर पर संतकाव्य की यह विवेचना प्रकाशित हुई है, मेरा सुझाव है, इसे आप सब लोग ध्यान से अवश्य ही पढ़ें। आपकी सुविधा के लिए रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित इस विवेचना का एक और भी अंश प्रस्तुत कर रहा हूँ :

‘यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संतकाव्य में प्राचीन वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गई है। यदि इस दृष्टिकोण से संतकाव्य पर विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि इसका दृष्टिकोण बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण के अनुरूप ही है जो शताब्दियों तक वैदिक धर्म से संघर्ष करता रहा। यदि बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि संतकाव्य बौद्ध साहित्य की परम्परा से ही अनुप्राणित हुआ होगा। बौद्ध साहित्य से वैपुल्यवाद या महायान का विकास हुआ, महायान में मंत्रयान, मंत्रयान से वज्रयान या तांत्रिक बौद्ध धर्म में परिणत हुआ। इसी वज्रयान की प्रक्रिया में नाथ संप्रदाय का विकास हुआ और नाथ संप्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वों को ग्रहण कर संत संप्रदाय अवतरित हुआ। यह देखा जा सकता है कि इस विकास की प्रक्रिया में बौद्ध धर्म से लेकर नाथ संप्रदाय तक जो जो जीवन के तत्व मनोभावों के धरातल पर उभर सके उन सबका समाहार संत संप्रदाय में हुआ। बौद्ध धर्म के शून्यवाद से लेकर नाथ संप्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के सिद्धों की ‘संघा भाषा’ की उलटबौंसियों से लेकर नाथ संप्रदाय की अवधूत भावना तक संतकाव्य में सभी विचार-सरणियों पोषित हो सकीं। बौद्ध धर्म से प्रेरित इस विचारधारा के विकास से ही यह संभव हुआ कि संतकाव्य समस्त वैदिक परम्परा के उन कर्मकांडों का विरोध कर सका जो कालान्तर में वैष्णव धर्म में भक्ति के साधन थे। इसीलिए अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला आदि संत संप्रदाय को ग्राह्य नहीं हो सके, जो कर्मकांड के प्रतीक बने हुए थे। दूसरी और शून्य, कायातीर्थ, सहज समाधि, योग जिसके अंतर्गत इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों, षट्चक्र, सहस्र दल कमल, चन्द्र और सूर्य तथा जीवन की स्वाभाविक और अन्तःकरणजनित श्रद्धा और रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता संतकाव्य में हो सकी।’ (वही, पृष्ठ 189-190)

श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित कबीर ग्रंथावली पढ़ें या पारसनाथ तिवारी द्वारा संपादित कबीर साहित्य का अध्ययन करें, आपको पता चलेगा कि कबीर के सैकड़ों पद अवधूतों अर्थात् नाथपंथी योगियों को संबोधित हैं। दरअसल कबीर ने इन अवधूतों की साधनापद्धति का भी खंडन किया। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर के जो पद संतों को संबोधित हैं, वे मूलतः कबीर के दृष्टिकोण या उनकी स्थापनाओं का स्पष्टीकरण करने के उद्देश्य से रचे गये हैं, परन्तु जो पद अवधूतों को संबोधित हैं वे मूलतः नाथपंथियों के हठयोग का खंडन करने के उद्देश्य से रचे गये हैं। (कबीर, पृष्ठ 78) कबीर नाथपंथियों के हठयोग की विभिन्न क्रियाओं के द्वारा प्राप्त शून्य भाव को मदिरा के नशे में धुत मानसिक दशा के समान अस्थायी मानते हैं; वे तो सहज समाधि को ही शाश्वत मानते हैं। इसी तरह अनहद नाद बजने की स्थिति को योगी परम सत्य मानता है, पर कबीर इसे नहीं मानते। वे पूछते हैं

‘बाजै जंत्र नाद-धुनि हुई, जो बजावै सो औरै कोई।

बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहुँ न देखा।।

(कबीर ग्रंथावली, संपादक श्यामसुंदरदास, पृष्ठ 230-31)

जो इस अनहद नाद को बजाता है, जो बाजीगर को नचाता है - उस परम तत्व से एकाकार होने पर कबीर की दृष्टि है। जबकि योगी योगक्रिया द्वारा अनहद नाद बजने की स्थिति को ही भ्रमवश परमसुख मान बैठे हैं। गोरखपंथी योगियों को ही कबीर ने अवधूत के रूप में संबोधित किया है। ये लोग कनफटा योगी भी कहलाते थे। ये लोग कान में छेद कर कुंडल धारण करते थे (या अब भी कुछ ऐसे जोगी हैं) जिसे मुद्रा कहते थे, उसके साथ काली सींग की सीटी गले में होती थी, जिसे शृंगी नाद कहते थे। इनके हाथ में नारियल का खप्पर होता था, वस्त्र गेरुआ, सिर पर जटाएँ, शरीर पर भभूत और ललाट पर त्रिपुंड। कबीरदास इन अवधूतों के बाह्य आचार को देखकर कहते हैं कि ये असली योगी नहीं हो सकते, चूँकि मन में मुद्रा नहीं है, मन में खप्पर और सींगी भी नहीं है; मन के भीतर आसन और मन का जपतप भी नहीं है (कबीर ग्रंथावली, पदसंख्या 206)।

अनेक विद्वानों ने कबीर की साखियों, रमैणियों और पदों के क्रमिक विकास का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि नाथपंथियों के हठयोग से उनका मोह भंग हो गया था। एक ऐसा भी वक्त आया जब वे स्वतंत्र मार्ग की तलाश करने लगे। डॉ. मोती सिंह ने ‘कबीर की भक्ति, आस्था और साधना’ शीर्षक लेख में यही निष्कर्ष निकाला है। उनकी स्थापना है कि ‘कबीर का सुझाव जिस रूप में भक्तिवाद की ओर बढ़ा उसमें अनिवार्य था कि बाह्य क्रियाबहुल योगमार्ग-उन्हें हेय प्रतीत हो।’ (कबीर, संपादन विजयेंद्र स्नातक, पृष्ठ 135) अपनी इस स्थापना की सोदाहरण विवेचना के उद्देश्य से डॉ. मोती सिंह ने कबीर के पद ‘संतो सहज समाधि भली’ को उद्धृत किया है। जब से साईं से मिलन हुआ, सुरति शाश्वत हो गई, इस सहज समाधि में न तो आँख मूँदते

हैं, न कान छिदवाते हैं बल्कि खुले नैन से हँस-हँस देखते हैं और सुंदर रूप को बस निहारते ही रहते हैं। उन्मनी की यह दशा ही परम सुख है। ऐसा प्रतीत होता है कि गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले जनसाधारण से हठयोगी कंट से गये थे; उनके आतंक, चमत्कार, करामात, वेशभूषा और बाह्याचार के कारण आम जनता पर नाथपंथी योगियों का अच्छा असर नहीं पड़ता था। अतः कबीर ने हठयोग के अंतर्गत माने जाने वाले पिपीलिका मार्ग को त्यागकर विहंगम मार्ग को अपनाया। जब इस घर के अंदर ही परमसुख उपलब्ध है, आत्मसाक्षात्कार हो सकता है, तो फिर प्राणायाम द्वारा कुंडलिनी के जागरण की जरूरत ही क्या है। यही तो पिपीलिका मार्ग था जो कठिन यौगिक साधना द्वारा जीभ को उलटकर तालु से सटाने की अनिवार्यता बताता था। इससे कहीं बेहतर तो विहंगम मार्ग था जिसमें प्राणायाम के बिना भी मन उच्च अवस्था को प्राप्त हो जाता है और उस दशा में मनुष्य की बाह्य भौतिक सत्ता के सभी तत्व लुप्त हो जाते हैं, मन समाधि की अवस्था में पहुँचकर इन विषयों से अलग हो जाता है। यही तो परमपद है, चरम आनंद की अवस्था, जहाँ बिना सरोवर के ही आनन्द की तरंगें उठा करती हैं और आत्मा चकवे की तरह जल के न होतें हुए भी किलोल करती रहती है (सूखे सरवर उठे हिलोर, बिनु जल चकवा करत किलोर)। सहज समाधि की इस अवस्था के अपने स्वतंत्र मार्ग की ओर बढ़कर कबीर ने प्रेमभक्ति के सर्वथा नये स्वरूप की कल्पना की। इस तरह ज्ञान, योग और भक्ति तीनों की सम्मिलन भूमि पर कबीर ने अपने अलग प्रकार के पंथ और साधना मार्ग का विकास किया।

कबीर की भक्ति वही नहीं है जो वैष्णवों की है। कबीर संबंधी समालोचना के गड़बड़झाले में इस प्रकार की भ्रांति खूब फैली। अनेक विद्वान यह मानने लगे कि कबीर योगमार्ग छोड़कर दक्षिण भारत के मंदिरों के आलवाड़ भक्तों, रामानुजाचार्य, स्वामी रामानन्द आदि के द्वारा प्रवर्तित भक्ति मार्ग के अनुयायी बन गये थे। इस घट के अंदर ही सिरजनहार है, इस घट के अंदर ही आनन्दलोक है, इस घट के अंदर ही आत्मरूप परमतत्व है, अतः सहज समाधि द्वारा उससे तादात्म्य हो सकता है, उसे प्रेम और भक्ति से पाया जा सकता है - सहज समाधि की इस पद्धति की यदि आप वैष्णव उपासना पद्धति से तुलना कर देखेंगे तो पता चलेगा कि कबीर का मार्ग सर्वथा भिन्न मार्ग है। सुरति-निरति की इस सहज अवस्था का कोई भी संकेत वैष्णव भक्ति में दिखायी नहीं पड़ता। स्त्री-पुरुष संबंध, पति-पत्नी संबंध, माँ और बेटे का संबंध - ये सारे संबंध कबीर के यहाँ प्रेमाभिव्यक्ति के प्रतीक मात्र हैं।

हठयोगियों और वैष्णवों से भिन्न इन संतों के मुख्य लक्षण बतलाते हुए कबीर ने चार बातों का उल्लेख किया था - किसी से भी बैर न रखना (निर्वैरता), किसी भी चीज की कामना न करना (निहकामता), परमतत्व रूपी स्वामी से प्रेम (साईं सेती नेह) और विषय-वासना का त्याग (विषया सँ न्यारा) -

कबीर निरवैरी निहकामता, साईं सेती नेह।  
विषया सँ न्यारा रहे, संतनि का अंग एह।।  
(कबीर ग्रंथावली, साखी - 1, पृष्ठ 85)

## 5.5 कबीर का दर्शन

कबीर के काव्य में परम तत्व, जीव, माया, सृष्टि आदि पर विचार अवश्य ही व्यक्त किये गये हैं, पर ये विचार एक संत के अनुभव-प्रसूत ज्ञानकण हैं। इन्हें दर्शन की एक सुसंगत व्यवस्था के रूप में देखना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त एक और भी समस्या है। कबीर को लम्बी आयु मिली थी। कहते हैं वे 120 वर्ष तक जीते रहे। अगर इसे जनश्रुति मानकर टाल भी दें तो इतना अनुमान करना सहज है कि कम से कम 75-80 वर्ष तक की उम्र उन्होंने अवश्य ही पायी होगी। एक जोगी, फकीर, संत, साधु और भक्त के रूप में उन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की थी, भाँति-भाँति के लोगों से मिले थे; तरह-तरह के धर्मशास्त्रियों, चिंतकों, भक्तों, ज्ञानियों आदि से वे टकराये थे। इसी लम्बी प्रक्रिया में कबीर के विचारों का भी निरन्तर परिष्कार हुआ होगा; निरन्तर परिवर्तन, संशोधन और आत्मशोधन के सिलसिले से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में कबीर दास द्वारा रचित प्रारंभिक बानियों की विचार-दृष्टि और प्रौढ़ावस्था में रचित बानियों की विचार-दृष्टि में तालमेल बिठा पाना मुश्किल होगा। कबीर की बानियों में दिखायी पड़ने वाले विरोधाभासों और परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को हिन्दी के विद्वानों ने प्रायः नजरअंदाज किया है। इससे भ्रांतियाँ बढ़ी हैं। वस्तुतः कबीर साहित्य में दिखने वाली असंगतियों का कारण भी यही है कि अपने प्रारंभिक विचारों का अतिक्रमण कर वे निरन्तर विकसित होते रहे हैं।

चूँकि ऐतिहासिक तिथिक्रम से उनकी रचनाओं का संकलन न हुआ है, न हो सकता है, अतः दार्शनिक प्रणाली के रूप में कबीर की विचार-व्यवस्था को ढूँढ निकालना लगभग असंभव कार्य है।

कबीर की विचार चेतना  
और प्रासंगिकता

कबीर अद्वैतवादी हैं। एकेश्वरवादी हैं। द्वैताद्वैत समतत्ववादी हैं। ब्रह्मवादी हैं। नाथपंथी हैं। सूफी हैं। पता नहीं, इस तरह की कितनी धारणाएँ हैं। कबीर के संबंध में इस प्रकार की-आलोचनात्मक अराजकता के मूल में हरेक आलोचक का निजी पूर्वाग्रह सक्रिय रहा है। डॉ. रामचंद्र तिवारी ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है - "वास्तविकता यह है कि कबीर के दार्शनिक विचारों के संबंध में निर्णय करते समय प्रत्येक विचारक किसी न किसी पूर्वाग्रह से प्रेरित रहा है। मोहसिन फानी ने जब कबीर को 'मूवाहिद' (एकेश्वरवादी) कहा था तो उसका निर्णय इस्लाम की धर्मभावना से प्रभावित था। बाबू श्यामसुंदरदास ने जब कबीर को 'ब्रह्मवादी' या 'अद्वैतवादी' कहा था तो वे यह मानकर चल रहे थे कि निर्गुण संतधारा शंकराचार्य के अद्वैतवाद से किसी न किसी रूप में प्रेरित और प्रभावित है। डॉ. बड़व्याल ने जब कबीर को अद्वैतवादी कहा था तो वे पूरी निर्गुण संत-परंपरा में व्याप्त विचारों को वेदांत के पुराने मतों के अंतर्गत व्यवस्थित करना चाहते थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जब कबीर को द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्ववादी कहा तो वे नाथपंथी योगियों के सिद्धांतों को पृष्ठभूमि में रखकर कबीर की तुलना कर रहे थे। इसी प्रकार जिन विद्वानों ने कबीर को स्वतंत्र विचारक माना है, वे कबीर की प्रतिभा से प्रभावित होने के साथ ही यह मानकर चले हैं कि कबीर परंपरागत शास्त्रीय चिंतन के कायल नहीं थे।" (कबीर मीमांसा, पृष्ठ 112-113)

कबीर को किसी विशिष्ट धार्मिक साधना के मतपोषक या किसी एक दार्शनिक धारा के समर्थक के रूप में देखने के आग्रह को छोड़कर सीधे-सीधे विभिन्न विषयों पर उनके विचार को समझने का प्रयत्न ज्यादा आवश्यक है। अतः सबसे पहले ब्रह्म पर उनके विचार को हम देखें। इसके बाद अन्य विषय क्रमानुसार आयेगे।

### 5.5.1 ब्रह्म

कबीर के काव्य में ब्रह्म एक है। उसका कोई रूप, कोई आकार, कोई व्यक्तित्व नहीं है। वह रूपातीत, गुणातीत है। वह न तो सगुण है, न निर्गुण - दोनों से परे है। वह इस जगत, इस सृष्टि के अणु-परमाणु में व्याप्त है। उसे किसी मूर्ति, किसी देवालय, किसी तीर्थ में नहीं पाया जा सकता। वह हमारे शरीर के अंदर, घट के अंदर, पिंड के अंदर, हमारी प्रत्येक साँस में विद्यमान है। वह अवतार ग्रहण नहीं करता। संसार की प्रत्येक वस्तु में वह छुपा है, अंतर्निहित है। उसका न तो वर्णन हो सकता है, और न उसकी कल्पना की जा सकती है। उसे सिर्फ अनुभव द्वारा पाया जा सकता है - गूगे के गुड़ के समान। उसके अनेक नाम हैं - राम, गोविन्द, हरि, केशव, करीम, रहीम, खुदा, अल्लाह, निरंजन, अलख आदि। नाम की भिन्नताओं के बावजूद परम तत्व तो एक ही है। उसे न तो वर्णों में बाँटा जा सकता है, न धर्मों में, न जातियों में। उसकी प्राप्ति भक्ति से, प्रेम से, आत्मानुभूति से हो सकती है। योग के अंतर्गत उसकी प्राप्ति सहज समाधि से भी हो सकती है (साधो सहज समाधि भली)। इस साधना में मार्गदर्शन सिर्फ गुरु ही कर सकता है। साधक को परमात्मा से मिलाने की क्षमता के कारण गुरु का स्थान परमात्मा से भी ऊँचा है।

जिन विद्वानों ने यह मान लिया है कि कबीर के ब्रह्म शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त वाले ब्रह्म हैं, अर्थात् संपूर्ण जगत में ब्रह्म परिव्याप्त है, उन्हें कबीर के इन पदों पर ध्यान देना चाहिए। कबीर पूछते हैं -

पंडित शोधि कहे समुझाई, जाते आवागमन नशाई।  
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष, कहु कौन दिशा बसे भाई।।  
उत्तर कि दक्खिन पूरब कि पच्छिम, स्वर्ग पताल कि माहीं।  
बिना गोपाल ठौर नहिं कतहुँ, नर्क जात धौं काहीं।।

जब गोपाल के अतिरिक्त और कहीं कुछ ठौर बाकी ही नहीं बचा तो फिर पंडित, जरा खोज करके बताओ, कि ऐसी स्थिति में नरक फिर कहाँ है? मुक्ति किस दिशा में बसती है? ये अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष आदि कहाँ किस दिशा में बसे हुए हैं?

इस तरह स्पष्ट है कि कुछ पदों में कबीर ब्रह्म की सर्वव्यापकता, जगत से ब्रह्म की अनन्यता तथा ब्रह्म और जीव में एकात्म अभिन्नता को स्वीकार नहीं करते। तत्वमसि का उपदेश देने वाले अद्वैत ब्रह्मवाद का वे अनेक स्थलों पर खंडन करते हैं। इससे पता चलता है कि दर्शन के स्तर पर कबीर के काव्य में असंगतियाँ और विरोधाभास भी हैं।

### 5.5.2 जीव

कबीर जीव और ब्रह्म के पृथक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। अनेक पदों में यह संकेत दिया गया है कि माया के खेल के कारण दोनों अलग हो गये हैं। यह माया ही है जो अविद्या, मोहपाश, विषयासक्ति आदि के द्वारा जीव पर अज्ञान का पर्दा डाल देती है। कबीर कहते हैं 'जे सोऊँ तौ दोइ जणों, जे जागूँ तौ एक।' रात्रि के अँधेरे में, अर्थात्, अज्ञान के वश में होने के कारण ब्रह्म और जीव अलग-अलग प्रतीत होते हैं। अगर ज्ञान हो जाए तो 'इस घट अंतर सिरजनहार' को पाया जा सकता है। ज्ञानोदय की दशा में जीवात्मा ब्रह्म का अंश हो जाती है - 'कहु कबीर इहु राम कौ असु।' अज्ञान की दशा में यह जीव 'हृद का जीवन' (सीमाबद्ध) होता है पर ज्ञानोदय की दशा में 'बिहद का जीव' (असीम में अनुरक्त) होता है। इसी हृद के जीव को, सांसारिकता और विषयासक्ति में लीन जीव को संबोधित करते हैं - 'जागि रे जीव जागि रे।'

### 5.5.3 माया

माया ब्रह्म की ही सृष्टि है। उसकी दो शक्तियाँ हैं - आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति से वह सत्य को ढँक देती है और विक्षेप शक्ति से भ्रांति उत्पन्न करती है। उस युग की विभिन्न धर्मसाधनाओं में माया की अवधारणा किसी न किसी रूप में प्रचलित थी। कबीर इससे मुक्त न हो सके। वे उसे ठगिनी, पापिनी, मोहिनी, सर्पिणी आदि की संज्ञा देते हैं। परम तत्व के साक्षात्कार में माया को बहुत बड़ी बाधा बताते हैं। वे माया के ध्वंस और विनाश की बात नहीं करते बल्कि उसे वश में करने, उस पर नियंत्रण करने, उस पर विजय प्राप्त करने की बात करते हैं। वे मानते हैं कि माया संतों की दासी/चेरी बन जाती है - 'कबीर माया दासी संत की, ऊभी देइ असीस।' कबीर काव्य में माया निरंजन की शक्ति है - ब्रह्मांड में जो माया है, पिंड में वही कुंडलिनी है। कुंडलिनी को ही माया माना गया, आद्याशक्ति माना गया। माया रूपी नागिन की फुफकार ही प्रणवध्वनि है। कबीर के पदों में प्रणव की महिमा खूब गायी गयी है।

### 5.5.4 जगत

संतकाव्यधारा में तथा कबीर की बानियों में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, उसे जगत, गोचर जगत की संज्ञा दी गई है। यह चंचल है, गतिशील है, अस्थिर है, क्षणिक है, नश्वर है। माया ने ही इस जगत की रचना की है, इसीलिए यह जगत भ्रांतिजनक है। धन, वैभव, आडम्बर, सुखभोग, संपत्ति, पद, अधिकार - ये सब जगत के ही रूप हैं। पर चाहे राजा हो, रंक हो, फकीर हो - सबको जाना है। सभी क्षणभंगुर हैं, मरणशील हैं। यह संसार दिन की हाट है जो सांझ होते ही उठ जायेगी। जगत की निस्सारता और क्षणभंगुरता के बारे में कबीर की अनेक साखियाँ और पद हैं।

क्षणभंगुरता का संवेदनशील चित्र प्रस्तुत करने में कबीर की बानियों को बड़ी सफलता मिली। ऐसे ही एक पद में कबीर पूछते हैं - इस झूठे तन पर गर्व क्यों करते हो? मरने के बाद परिवार वाले इस शरीर को क्षणभर भी घर में रखने को तैयार नहीं होते। जिस शरीर को - जिस पिंड को खीर, खांड और घी से संवारा, उसी शरीर को प्राण निकल जाने के बाद निकृष्ट समझकर जला दिया जाता है। जिस शरीर पर सुरचि-अभिरुचि के साथ पगड़ी बांधी जाती थी, उसे मृत्यु के बाद कौए अपनी चोंच से खोद-खोद कर खाते हैं। हड्डियाँ सूखी लकड़ी के समान जलती हैं और केश तृण के ढेर के समान जल जाते हैं। कबीर कहते हैं यम का डंडा लगने पर भी लोग मोह नहीं त्यागते -

झूठे तन को क्या गरबावै।

मरै तौ पल भरि रहन न पावै।।

खीर खांड घृत पिंड संवारा, प्राण गए लै बाहरि जारा।

जिहिं सिरि रचि रचि बांधत पागा, सो सिरु चंचु संवारहि कागा।

हाड़ जरै जैसे लकड़ी झूरी, केस जरै जैसे त्रिन कै कूरी।

कहै कबीर नर अजहुं न जागै, जम का डंड मूंड महि लागै।।

इस जगत की सृष्टि के संबंध में कबीर की मान्यता का विवेचन करते हुए अक्सर सांख्य, अद्वैत वेदान्त, शैव दर्शन, तंत्रसाधना और योग दर्शन के प्रभाव की चर्चा की जाती है। कुछेक बानियों में अल्लाह के नूर से सारे

संसार की सृष्टि का उल्लेख होने के कारण कबीर पर इस्लाम के प्रभाव का भी उल्लेख किया जाता है। कबीर ने इस संसार की सृष्टि का स्वरूप समझाते हुए सत्व, रज, तम - इन तीन गुणों अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति का जिक्र किया है; आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी नामक पंचतत्वों की भी बात की है। सांख्य दर्शन में इन तत्वों को अनश्वर माना गया है जबकि कबीर की बानियों में इन तत्वों को भी नश्वर माना गया है, (नहीं ब्रह्माण्ड, पिंडि पुनि नाही पंचतत्व भी नाही)। इस प्रसंग में कबीर के दर्शन पर 'कबीर मीमांसा' नामक पुस्तक के लेखक डॉ. रामचंद्र तिवारी का निष्कर्ष यथोचित प्रतीत होता है कि "सांख्य की शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी कबीर ने सांख्य की दृष्टि से संसार को नहीं देखा है।" (पृष्ठ 128) यही स्थिति अन्य दर्शनों की भी है। कबीर ने न तो अद्वैत दर्शन की दृष्टि से संसार को देखा है, न शैव, शाक्त, तंत्र और योग की दृष्टि से। कबीर की शब्दावली में इन दर्शनों के पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति के कारण ही भ्रान्ति होती है।

### 5.5.5 मोक्ष

कबीर इस मायाकृत संसार में आसक्ति नहीं रखते। अतः प्रवृत्तिमार्गी नहीं माने जा सकते। उन्हें आम तौर पर निवृत्तिमार्गी माना जाता है। मोक्ष की धारणा एक विचार-रूढ़ि के रूप में प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। कबीर इस धारणा के सर्वग्रासी आंतक से मुक्त न थे। कबीर ने भी उस विचार-रूढ़ि के अनुसार मोक्ष को जीवन-मरण के चक्र, इस संसार में बार-बार आवागमन के चक्र से छुटकारे के अर्थ में ही ग्रहण किया है। प्राचीन विचार-रूढ़ि यह भी रही है कि जीव जीवन-मरण के बंधन से मुक्त होकर भवसागर तर जाता है और वैकुण्ठ लोक में पहुँच जाता है। पर कबीर इस वैकुण्ठ लोक में विश्वास नहीं करते। कबीर किसी भी ऐसे वैकुण्ठ लोक के अस्तित्व का खंडन करते हैं। वे पूछते हैं - राम, मुझे तार कर, मेरा उद्धार कर आप मुझे कहाँ ले जाओगे? वह वैकुण्ठ कहाँ है? (राम मोहि तारि कहाँ लै जइहौ?) कबीर की दृष्टि में सांसारिक विषय-वासनाओं से विमुख होना ही जीव की मुक्ति है, जीव का मोक्ष है (कबीर जीवन मृतक है, रहै, तजै जगत की आस)।

### 5.5.6 कबीर के राम

कबीर की बानियों में जिस राम का बार-बार उल्लेख होता है, वह दशरथपुत्र राम नहीं, बल्कि निर्गुण-निराकार परम सत्ता के अर्थ में 'राम' के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। कबीर ने भी राम की भक्ति की है और तुलसी ने भी। एक निरगुनिया और दूसरे सगुनिया। दोनों की रामभक्ति के सारतत्व में काफी अंतर है। अलौकिक-अगोचर परम सत्ता के लिए कबीर की बानियों में सिर्फ राम का ही उल्लेख नहीं हुआ है, बल्कि हरि, गोविन्द, निरंजन, केशव, नारायण, माधव, मुकुन्द, विश्वंभर, बीठुला, मुरारि, करीम, रहीम आदि का भी नाम लिया गया है। सदियों से चले आ रहे वैचारिक संस्कारों को व्यक्त करने वाले पारिभाषिक पदों को स्वीकार करने और उनके प्रयोगों द्वारा से ही नयी बात कहने की कबीर की विवशता के कारण अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं।

लेकिन यदि कबीर की बानियों में आये ऐसे प्रसंगों पर ठीक से ध्यान दें तो पता चलेगा कि वे जिस राम की उपासना करते हैं, वह अविगत है, परम तत्व है और वेद-पुराण आदि उसका मर्म नहीं जानते (अविगत की गति लखी न जाइ। चारि वेद जाके सुमृत पुराना, नौ व्याकरणां मरम न जाना)। न तो उसकी रूप रेखा है, न कोई वर्ण; वह निर्भय, निराकार, अलख-निरंजन, वर्ण-अवर्ण से परे, सृष्टि और लय से परे है। वह लोक और वेद दोनों से परे है। प्राचीन काल से चली आ रही नेति-नेति शैली - अर्थात् वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है - कबीर की बानियों में बार-बार मिलती है।

कबीर की कविताओं में निरूपित यह सर्वव्यापी अगोचर परम तत्व ही सृष्टि का कर्ता है। 'बीजक' की एक रमैनी में उन्होंने यह बताया है कि परमात्मा ने स्वयं कुंभकार की भाँति सृष्टि की है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संगृहीत एक पद में वे इस परम तत्व को बाजीगर बताते हैं। कबीर के निर्गुण राम कृपालु हैं, भक्तों के लिए करुणानिधान हैं, दुखभंजन और प्रतिपालक हैं।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी यह स्वीकार किया है कि "कबीर तात्त्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं थे और उनके निर्गुण राम में और वेदान्तियों के पारिभाषिक 'निर्गुण ब्रह्म' में मौलिक भेद है।" (कबीर, पृष्ठ 116)

### 5.5.7 भक्ति

कबीर निर्गुण-निराकार, अरूप-अगोचर परम सत्ता या राम के भक्त थे। प्रश्न यह है कि अरूप और निर्गुण भगवान भक्ति का विषय कैसे हो सकता है? भगवद्विषयक प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। भक्ति के लिए अपने

उपास्य के प्रति अनन्य भावना होनी चाहिए, बिना शर्त उत्सर्ग की भावना, आत्मसमर्पण। कबीर की बानियों में यह अनन्य भावना इस सीमा तक है कि वे कहते हैं - हे गुसाईं! मैं तो तुम्हारा गुलाम हूँ, मुझे बेच दो। सारा तन-मन-धन तेरा है और तेरे लिए ही है। राम ही गाहक और राम ही सौदागर है। कबीर तो तनमनधन न्योछावर कर अपने को, अपने राम पर कुर्बान कर चुके हैं -

मैं गुलाम मोहिं बेचि गुसाईं ।  
तन-मन-धन मेरा रामजीक ताई ।  
आनि कबीरा हाटि उतारा,  
सोइ गाहक सोइ बेचनि हारा ।  
बेचै राम तो राखै कौन,  
राखै राम तो बेचै कौन ।

कबीर के पदों में अनन्य प्रेमभावना की अभिव्यक्ति रतिशृंगार के रूपकों के माध्यम से भी हुई है - तलफै बिन बालम मोर जिया। अथवा एक अन्य पद में - मैं अबला पिउ पिउ करूँ निर्गुण मेरा पीव।

नाथपंथियों के प्रभाव से मुक्त होने के बाद कबीर ने भक्ति और प्रीति के दाम्पत्य वाले रूपकों में प्रेम की अनन्यता की तो व्यंजना की है, उसके अतिरिक्त 'सहज समाधि' का एक नया रागात्मक क्षेत्र भी चुना जो जोगियों की समाधि से भिन्न प्रेमपगी सुरति-निरति थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की सृजनात्मकता प्रौढ़ परिपक्व रूप में जीवन के अंतिम समय में नया रूप ग्रहण कर रही थी। इस दृष्टि से 'साधो सहज समाधि भली' जैसे पद रागात्मक व्यंजना की दृष्टि से भी अनूठे और रचनाशिल्प की दृष्टि से भी नयी उद्भावना के प्रमाण हैं। इसी पद में "जहँ-जहँ डोलों सोई परिकरमा" तथा "खुले नैन पहिचानौं हँसि-हँसि, सुंदर रूप निहारों" जैसी सुंदर अभिव्यक्तियाँ हैं। कबीर ने नाथपंथियों के प्रभावों का अतिक्रमण कर जब अपना स्वतंत्र विकास किया, तभी प्रेम के बादल की वर्षा से उनकी आत्मा का अंतर्तम भीग गया। प्रेम और भक्ति से आर्द्र सैकड़ों पद हैं जो उनके जीवनकाल के अंतिम दिनों की रचना प्रतीत होते हैं। इन्हीं पदों में भक्ति का नया स्वरूप उभरता है। इस भक्ति को रहस्यवादियों के साधनात्मक रहस्यवाद से भिन्न रूप में देखना और समझना चाहिए। कबीर की भक्ति वैष्णवों की नवधा शक्ति से भी भिन्न है। उपास्य के रूप का संकेत प्रतीकात्मक मात्र होने से नवधा भक्ति से उसका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। रामकुमार वर्मा ने धीरेंद्र वर्मा और ब्रजेश्वर वर्मा द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य' के दूसरे खंड में संतकाव्य का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। वर्मा जी कबीर की भक्ति के विभिन्न अवयवों का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि उससे निम्नलिखित आवश्यकताओं की पूर्ति हुई-

"ब्रह्म को रूप और गुण में सीमित न करते हुए उसे प्रतीकों द्वारा मानसिक धरातल पर लाने में सफलता, प्रेम के माध्यम से आडम्बर और कर्मकांड की आवश्यकता दूर करना, अशिक्षित और अर्धशिक्षित जनता के हृदय में ब्रह्म की अनुभूति उत्पन्न करने के लिए विविध संबंधों की अवतारणा और गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूपकों के सहारे उससे नैकट्य स्थापित करना, सूफी मत के प्रेमतत्व और वैष्णव धर्म के भक्ति तत्व को मिलकार हिन्दू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिकता दूर करना, विश्वव्यापी प्रेम से विश्वधर्म की स्थापना करना जिसमें वर्गभेद और जातिभेद के लिए कोई स्थान नहीं है और इस प्रेम के माध्यम से आत्मसमर्पण की भावनाओं को जागरित करना जिसमें पति-पत्नी के प्रेम की पूर्णता से रहस्यवाद की व्यावहारिक परम्परा का सूत्रपात हो।" (वही, पृष्ठ 215)

इस तरह स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति में सभी मनुष्यों के लिए समानता की भावना है। इसमें किसी भी बाह्याचार या धार्मिक कर्मकांड को स्थान नहीं दिया गया है। यह भक्ति ईश्वर के दरबार में सबकी समानता और एकता की पक्षधर है।

## 5.6 सारांश

इस इकाई में आपने कबीर की विचारचेतना और प्रासंगिकता का अध्ययन किया। किसी भी रचनाकार की विचार चेतना का उद्भव और विकास किसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति के कारण ही होता है। कबीर अपने युग के प्रगतिशील विचारक और समाज सुधारक थे। उन्होंने किसी भी विचारधारा या दर्शन का अंधानुकरण नहीं किया।



वे वैदिक संस्कृति के चौखटे के बाहर के यथार्थवादी म्रष्टा रचनाकार थे। कबीर समेत भक्ति-आंदोलन के सभी प्रारंभिक रचनाकारों का साहित्य अपने आप में शुद्ध धार्मिक आंदोलन की अभिव्यक्ति न होकर तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की टकराहटों और असंगतियों की आदर्शवादी अभिव्यक्ति है। कबीर ने शास्त्रीय ग्रंथों और पोथियों के ज्ञान को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था। कबीर ने 'प्रेमभक्ति' के सर्वथा नए स्वरूप की कल्पना की। इस तरह ज्ञान, योग और भक्ति, इन तीनों की सम्मिलित भूमि पर कबीर ने अपने अलग प्रकार के पंथ और साधना मार्ग का विकास किया। कबीर की भक्ति में सभी मनुष्यों के लिए समानता की भावना है। इसमें किसी भी बाह्याचार या धार्मिक कर्मकाण्ड को स्थान नहीं दिया गया है। कबीर के यहां ईश्वर तत्व और मानव प्रेम दोनों अभिन्न हैं। कबीर का साहित्य आज भी प्रासंगिक है। जातियों, धर्मों, वर्गों, आदि में विभाजित समाज की संकटग्रस्तता के समय कबीर का साहित्य प्रासंगिक हो जाता है। कथ्य और सांकेतिक व्यंजनाओं के कारण कबीर की बानियां आज के पाठकों को समकालीन जीवन के बदले हुए संदर्भों में उतनी ही झकझोरती हैं, जितनी मध्यकालीन यथार्थबोध के संदर्भों में।

---

## 5.7 अभ्यास/प्रश्न

---

1. कबीर के काव्य को लेकर फैली भ्रातियों को संक्षेप में प्रस्तुत कर उनका समुचित खंडन प्रस्तुत कीजिए।
2. मध्य युग के प्रगतिशील रचनाकार के रूप में कबीर का मूल्यांकन कीजिए।
3. संतकाव्यधारा के प्रतिनिधि के रूप में कबीर के काव्य पर सिद्धों तथा नाथों के प्रभाव की विवेचना प्रस्तुत कीजिए।
4. कबीर के दर्शन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालिए।
5. क्या कबीर अद्वैतवादी थे? उनकी विचारधारा का सारसंक्षेप प्रस्तुत कीजिए।